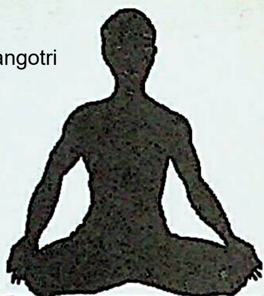
ओ३म्



योग क्यों क्या और कैसे?

(योग-अर्थात ईश्वर से युक्त होना)

लेखक :
स्वामी अमृतानन्द जी सरस्वती
(पूर्व नाम : आचार्य अमृतलालजी शर्मा)

साधना साहित्य प्रकाशन :
दयानन्द विद्यापीठ, साधक आश्रम, जमानी (इटारसी)
जिला-होशंगाबाद, म.प्र.-४६१११, आर्यावर्त्त
खण्डवा कार्या. : 'प्रणवदीप' आनन्द नगर, खण्डवा-४५०००१ (म.प्र.)
दूरभाष : ०७३३-२२४६६३१, चल दूरभाष : ०६४२५३२६२६५

सप्तम् संस्करण १००० कुल ६५०० • संवत २०६८ वि. • सहयोग राशि : श्रद्धानुसार

आर्य समाज के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसकी ही उपासना करने योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना–पढ़ाना और सुनना–सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्‌देश्य है, अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहे।

भूमिका

वर्तमान में योग के विषय में अत्यन्त भ्रान्त धारणाएँ फैल चुकी हैं। कोई तो भोग की कुशलता प्राप्त करने को योग मानते हैं। तो कोई अत्यन्त काल्पनिक व चमत्कारिक बातों की सिद्धि को योग मानते हैं। अथवा कोई योग को ब्रम्हचारियों सन्यासियों आदि गृहत्यागियों के लिये ही मानते हैं। या फिर अग्नि के मध्य में बैठना, एक टांग पर वर्षों खड़े रहना, ठंड में नंगे शरीर रहना, भूमि के नीचे गड्ढा करके ४–६ या ८–१० दिन तक आसन में बैठना, जल में रहना इत्यादि को योग मानते हैं। कई अन्य लोग नेति, धौति, शंख प्रक्षालन आदि तथा कुछ विशेष प्रकार के आसनों के करने को ही योग मानते हैं। इस प्रकार बहुत भ्रान्त धारणाएँ योग के विषय में प्रचलित एवं प्रसारित हैं।

परन्तु मैं इस विचार को टालता रहा, पर अभी कुछ समय पूर्व जब खण्डवा (म.प्र.) के आर्य वीरों के लिए योग शिविर का सम्पादन किया और उन सबका जो अधिक आग्रह हुआ कि कुछ न कुछ इस विषय पर अवश्य प्रकाश करें। यह उसी की परिणति है। यदि योग जिज्ञासुओं को इससे अत्यल्प लाभ भी मिला तो मैं इसका धन्यवाद भी उन्हें ही दूंगा।

पिछले कुछ वर्षों से मैं प्रायः भारत वर्ष के अनेक प्रान्तों में योग शिविरों का संचालन करता रहा हूँ। अधिकांश व्यक्ति मुझे प्रेरणा दिया करते हैं कि जो यथार्थ योग की बातें आप बतातें हैं वो तो प्रायः अभी तक हमें पढ़ने–सुनने में नहीं आई यदि आप इस विषय में थोड़ा मार्गदर्शन रूप में कुछ लिखें तो हमारी योग विषयक भ्रान्त धारणाएँ टूटने व योग मार्ग के अवलम्बन में सहयोग मिल सकता है। क्योंकि सारे भौतिक साधनों के होते हुए भी सारा मानव समाज अशान्ति, दुःख व क्लेशों से पिस रहा है।

मानव जीवन का उद्देश्य क्या है– समस्त दुःखों की निवृत्ति व पूर्णानन्द की प्राप्ति। इसको प्राप्त करने के लिए वेदवाणी में बताया है–

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

यजु. ३१/१८

भाव– परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में सभी मनुष्यों के कल्याण के लिए वेदों का ज्ञान दिया। उसमें वे कहते हैं जो कोई समस्त दुःखों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त करना चाहे उसके लिये एकमात्र उपाय वैदिक उपासना है अर्थात् ईश्वर के साक्षात्कार के बिना यह सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपनिषद में भी बताया है–

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

कठोपनि. वल्ली २/१५

भाव– चारों वेद जिस परमपद की महिमा बताते हैं सभी प्रकार के तप जिसके लिये किये जाते हैं जिसकी इच्छा से ब्रह्मचर्याश्रम, ग्रहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व सन्यासाश्रम को धारण किया जाता है अर्थात् सभी प्रकार के कर्म किये जाते हैं। संक्षिप्त में वह परमपद "ओ३म्" है।

महर्षि दयानन्दजी भी कहते है– चारों वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के जनाने में है। और कहा गया है एकमात्र परमेश्वर ही समस्त दुःखों से रहित और नित्यानन्द युक्त है और वह अपने उपासकों को समस्त दुःखों से छुड़ाने व अपना ज्ञान, बल, आनन्द देने में समर्थ है। उसकी उपासना का एकमात्र उपाय 'योग' है और वह योग विद्या वेदादि सत्य शास्त्रों में वर्णित है और जिसका आचरण करते हुए पूर्व में सभी ऋषि–महर्षि अपने जीवन को सफल करते रहे हैं उसका ही प्रतिपादन महर्षि पतंजलि ने योग–दर्शन में किया है। इसी का संक्षिप्त परिचय इस पुस्तिका में है।

परमात्मा की महती कृपा से जैसा कुछ मुझे अनुभव में आया वैसा ही लिखा है। यदि कहीं कुछ सुधार की आवश्यकता विद्वद्वृन्द अनुभव करें तो मुझे इसका ज्ञान अवश्य करायें ताकि भविष्य में सुधार किया जा सके।

ईश्वर तेरी वस्तु तुझे अर्पण !

–स्वामी अमृतानन्द सरस्वती
(पूर्व नाम – आचार्य अमृतलालजी शर्मा)
विद्यावाचस्पति
मोबाइल : 94253 26265

सबका उपास्य परमेश्वर

ओ३म् युञ्जन्ति ब्रध्नमरूषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि।।

(ऋ० १/१/११/१)

भाष्यम् – (युञ्जन्ति) ये योगिनो विद्वान्सः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान् वा (चरन्तम्) ज्ञातारं सर्वज्ञम् (अरूषं) अहिसकं करूणामयमरूषहिंसायाम् (ब्रध्नं) विद्यायोगाभ्यास–प्रेमभरेण सर्वानन्दवर्द्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रूचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते।

भाषार्थ – (युञ्जन्ति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसलिए जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सबका जाननेवाला (अरूषं) हिंसादि दोषरहित कृपा का समुद्र (ब्रध्नं) सब आनन्दों का बढ़ानेवाला सब रीति से बड़ा है। इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूट के, आत्माओं को प्रकाशित करनेवाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते है।

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्य्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

(तैत्ति० ब्र० 10/1)

शब्दार्थ – (सह नाववतु) हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! आपकी कृपा रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक–दूसरे की रक्षा करें, (सह नौ

भुनक्तु) और हम सब लोग परमप्रीति से मिलके सबसे उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्यादि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें, (सह वीर्यं) हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक-दूसरे के सामर्थ्य को पुरूषार्थ से सदा बढ़ाते रहें (तेजस्वि0) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे, (मा विद्विषावहै) हे प्रीति के उत्पादक! आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें । किन्तु एक-दूसरे के मित्र होकर सदा वर्तें। (ओं शांतिः) हे भगवन् ! आपकी करूणा से हम लोगों के तीन-ताप एक 'आध्यात्मिक' जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा 'आधिभौतिक' जो दूसरें प्राणियों से होता है और तीसरा 'आधिदैविक' जो कि मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चंचलता से क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शांत अर्थात् निवारण कर दीजिए। (ऋ0 भू0 प्रार्थना विषय)

ऋचो अक्षरें परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।।

(ऋ0 1/164/39)

भाषार्थ – जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है उस ब्रह्म को जो नहीं जानता वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है ? नहीं-नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ।।

(ऋ0 अ.1 अ.2 व.7 म.5)

भाषार्थ – (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमं) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदं) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात्

जिसका नाम मोक्ष है उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है, और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है, अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था और इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं, इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता हैं, क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टांत है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवरण रहित आकाश में व्याप्त होता है, और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयं प्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसीलिए चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिए विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।



योग क्यों

प्रत्येक व्यक्ति जब किसी विचारधारा वा पद्धति को अपनाना चाहता है अथवा किसी को अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहता है तो उस पर स्थिर होने के लिए तीन प्रश्नों का युक्ति तर्क व प्रमाण सहित बौद्धिक स्तर पर उत्तर पाना आवश्यक है। वे प्रश्न हैं – **क्यों, क्या और कैसे ?** इन बातों का यथार्थ ज्ञान हुए बिना किसी भी विषय में प्रवेश किया नहीं जा सकता और न कराया ही जा सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में **योग क्यों** इस पर प्रथम विचार करते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भी कर्म में तब ही प्रवृत्त होता है जब उसे उसमें कुछ लाभ दीखता है वा मिलता है। ठीक ही कहा है कि–

प्रयोजनं बिना मन्दोपि न प्रवर्तते।

बिना प्रयोजन के अजगर भी नहीं चलता है, अर्थात् मंद बुद्धि भी बिना प्रयोजन के किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, अतः यदि योग के लाभों से हम परिचित नहीं होंगे तो अपनी प्रवृत्ति को योग की ओर नहीं लगा सकेंगे। आजकल सर्वत्र अर्थात् अधिकाधिक रूपेण ईश्वर को न मानने वालों की संख्या बढ़ रही है। उसका कारण एक ही है कि ईश्वर को मानने वालों ने उसके लाभ यथावत् नहीं बताए हैं अतः आइए अब **योग क्यों** इस पर विचार करें –

आज मनुष्य समाज में सर्वत्र प्रायः सुख व दुःख की निम्न परिभाषा जानी–मानी जाती है–सांसारिक विषयों वा व्यवहारों से जो इंद्रियों की अनुकूलता प्राप्त होती है, उसे **सुख** मानते हैं। इससे विपरीत जो सांसारिक विषयों व व्यवहारों से इन्द्रियों की प्रतिकूलता प्राप्त होती है उसे **दुःख** मानते है।

इस **सुख व दुःख** की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति करता है। इसलिए सामान्य व्यक्ति का अपना सम्पूर्ण बल समय व धन अनुकूलता प्राप्त करने के प्रयासों में ही लगता है। फिर भी जैसा वह भीतर से चाहता है पूर्ण सुखी नहीं होता तथा दुःखों से अत्यंत निवृत्त नहीं हो पाता।

।। अत्याचार सहना महापाप है ।।

पहले हम सांसारिक पदार्थों से होने वाले सुख पर विचार करते हैं—इन्द्रियों के माध्यम से जो सुख प्राप्त करते हैं यह ठहरता नहीं है। सुख मिला व तत्काल छूट गया। अर्थात् यह **सुख क्षणिक** है। यदि किन्हीं उपायों से इन्द्रियजनित सुख के साधनों को विपुल मात्रा में **संग्रहित** कर लिया व उनका भोग निरंतर करने लगे तो ऊब हो जाती है। इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इत्यादि में से किसी भी विषय को ले सकते हैं। अब जैसे किसी को गुलाबजामुन अत्यंत प्रिय स्वादिष्ट लगते हों तो उसे खिलाओ, थोड़े समय तो उसे सुख मिलेगा पश्चात् एक स्थिति ऐसी आएगी कि उस ओर देखने की इच्छा भी नहीं होगी। परंतु कालांतर में फिर उसी पदार्थ के लिए इच्छा जाग्रत होगी। इसका अर्थ हुआ उसे **पूर्ण तृप्ति** नहीं हुई। जबकि मनुष्य की इच्छा ऐसी होती है कि जो सुख मुझे मिला है वह छूटे नहीं, निरंतर बना रहे। पर ऐसा देखने में आता हैं कि उसके चित्त में ऐसे संस्कार हैं जिनके कारण वह सोचता है कि आज नहीं तो कल ऐसा संभव हो जाएगा जब मैं इसमें सफलता प्राप्त कर लूंगा। पर यह भ्रांत धारणा है, कुसंस्कार है क्योंकि जिन सांसारिक पदार्थों से सुख लेता है वह परिवर्तनशील हैं अर्थात् सर्वदा एक ही स्थिति में नहीं रहते, जिसे शास्त्रीय भाषा में अनित्य कहते हैं। इसी प्रकार जिन इन्द्रियों के माध्यम से यह सुख लाभ करता है वे भी परिवर्तनशील हैं अर्थात् अनित्य हैं। अब देखिए जब संसार के पदार्थ अनित्य हैं, जिनके माध्यम से सुख लेते हैं, वे भी अनित्य हैं, फिर इनसे प्राप्त सुख भी कैसे निरन्तर बना रह सकता है? अर्थात् वह भी अनित्य ही होगा।

समझिए—एक व्यसनी व्यक्ति शराब या सिगरेट का पान करके सुख का अनुभव करता है, इस सुख के लिए प्रथम एक सिगरेट पीता है, फिर दो, तीन और अन्त में लगातार पीने लगता है अर्थात् वह चेनस्मोकर बन जाता है। फिर भी वह पाता है कि सुख तो छूटता ही जा रहा है। इस पूरे विवेचन से तीन बातें सामने आयी हैं कि – जो सांसारिक सुख हैं उनमें तीन कमियां हैं, जो उसे निरंतर खटकती हैं –

१. ये सुख क्षणिक हैं अर्थात् निरंतर नहीं बने रहते।
२. इनमें ऊब हो जाती है।
३. पूर्ण तृप्ति की अनुभूति नहीं होती।

अतः यह बात सुस्पष्ट है कि भीतर जो उसकी सुख की मांग है वह इन तीन दोषों से रहित सुख की है अर्थात्

१. ये सुख क्षणिक न हों, निरंतर रहें।
२. जिनसे ऊब न हो।
३. जिनसे पूर्ण तृप्ति की अनुभूति होवे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि जैसा सुख वह चाहता है वैसा सुख सांसारिक विषयों व व्यवहारों से कभी भी संभव नहीं हो सकता। इतना सब कुछ जानकर भी संसार के सुख के प्रति मनुष्य का मोह कम नहीं होता। वह सोचता है कि इसके लेने में हानि ही क्या है भले ही क्षणिक हो, पर है तो सुख ही, फिर क्यों छोड़ा जाए ? परंतु जब सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है तो यह ज्ञान बनता है कि जिस सुख को वह चाह रहा है, तथा जिस दुःख को वह छोड़ना चाहता है वास्तव में उसी सुख के साथ वह दुःख भी आ रहा है। हमारी आंतरिक इच्छा कभी भी दुःख लेने की नहीं है। जब दुःख को पूर्णतया नष्ट करने की इच्छा है तो देखें कि यह सुख कैसा है। गहन चिन्तन करने पर यह चित्र सामने आता है कि सांसारिक सभी सुख चार प्रकार के दुःखों से युक्त हैं एवं जब व्यक्ति प्रत्येक सुख में चार प्रकार के दुःख देखेगा तभी उसका मोह भंग होगा अन्यथा नहीं। योग दर्शन की भाषा में वह दुःख निम्न चार प्रकार का है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः

(यो. २/१५)

१. परिणाम दुःख — इन्द्रियों के द्वारा जब विषयों से सुख लिया जाता है तो उस सुख भोग के पश्चात् चित्त में राग नामक संस्कार बनता है, कालांतर में इस विषय के ध्यान, उसकी चर्चा और विषय

दर्शन होने पर उस विषय के सुख के लिये इन्द्रियां चंचल हो जाती हैं और मन को अशांत कर देती हैं। जब उन इन्द्रियों की शांति हेतु उस विषय से सुख भोग करते हैं तो तात्कालिक अनुभव ऐसा बनता है कि मन शांत हो गया, पर आगे परिणाम यह बनता है कि इन्द्रियों की मांग विषय सुख के लिये अब और अधिक बढ़ जाती है। यही परिणाम दुःख है। जिसे मनुमहाराज ने यों बताया है –

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

अर्थात् विषय भोग से कामनाऐं शान्त नहीं होतीं अपितु वैसे ही बढ़ जाती हैं जैसे घृतादि की आहुति से अग्नि और अधिक बढ़ जाती है। इस विषय में भर्तृहरी ने ऐसा ही कुछ लिखा है –

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः

अर्थात् भोगों को भोगते हुए हम ही समाप्त हो जाते हैं परंतु भोग समाप्त नहीं होते तथा इन भोगों को भोगने से जो रागज संस्कार बनते हैं तो उनकी मांग की आग से सर्वदा वह दग्ध होता रहता है इसी को **परिणाम दुःख** कहते हैं।

२. ताप दुःख – जब मनुष्य लौकिक वस्तुओं में सुख का अनुभव करता है तो वह उनके संचय करने में सर्वदा लगा रहता हैं। इन सुख साधनों के संचय करने में उसे अनेकों प्रकार के दुःख भोगना पड़ते हैं तथा सुख साधनों के संचय करने में अथवा सुख साधनों के भोगों में जब कोई बाधा उपस्थित करता है तो इस कारण दुःख को भोगता है और उस दुःख भोग से चित्त में द्वेष का संस्कार निर्मित होता है। जिस कारण दुःख भोगने वाले कारण के स्मरण करने, चर्चा सुनने व दर्शन से मन अत्यंत अशांत होता है। इस अशांति को ही **ताप दुःख** कहते है। एक कवि ने कहा है –

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्।।

अर्थात् विषय सुख के प्रमुख साधन धन कमाने में, कमाकर उसकी

रक्षा करने में, अन्यान्य उपायों से बढ़ाने में और खर्च करने में अनेक विध दुःख आते हैं। अतः कष्टों के आश्रयभूत धनादि को धिक्कार है

३. संस्कार दुःख – संसार के व्यवहारों को करते हुए उनसे मिलने वाले सुख वा सुख साधनों के भोग से राग के संस्कार बनते हैं तथा दुःख वा दुःख साधनों के भोग से द्वेष के संस्कार बनते हैं। राग और द्वेष के संस्कारों की प्रेरणा से व्यक्ति दो प्रकार के कर्मों को करता है – धर्म व अधर्म, इन कर्मों का फिर कर्माशय निर्मित होता है। जो देह छूटने के पश्चात् दूसरी देह प्राप्त होने पर प्रारब्ध रूप फल भोग देता है, उस प्रारब्ध से पुनः सुख और दुःख भोगता है। फिर उससे राग व द्वेष बनते हैं। पुनः धर्माधर्म के कर्म करता है और उसके आधार पर कर्माशय निर्मित होता है। इस प्रकार **भवचक्र का निर्माण** होता है। इस प्रकार दुःखों से जन्म–जन्मांतरों तक पिसना होता है इसे संस्कार दुःख कहते है।

४. गुणवृत्तिविरोध दुःख – संसार के प्रत्येक पदार्थ का निर्माण प्रकृति से हुआ है, तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है –

१. सत्व गुण – जिसका फल सुख है।
२. रजोगुण – जिसका फल दुःख है।
३. तमोगुण – जिसका फल मोह व अज्ञान है।

जब व्यक्ति संसार के पदार्थों से सुख ग्रहण करता है तो रजोगुण व तमोगुण भी साथ में रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का निर्माण प्रकृति से हुआ है। अतएव प्रत्येक पदार्थ तीनों गुणों से युक्त है। पूर्ण स्वतंत्र रूप से कोई गुण नहीं रहता है परन्तु प्रत्येक गुण का फल आपस में विरोधी है। इन गुणों को कभी भी अलग–अलग नहीं किया जा सकता। अर्थात् जो प्रकृति का विकार कार्य जगत् है उससे दुःख रहित सुख कभी नहीं मिल सकता। अर्थात् सांसारिक समस्त सुख दुःखों से मिश्रित हैं। इसलिये जो प्रकृति से दुःख प्राप्त होता है उसे **गुणवृत्ति विरोध दुःख** कहते है।

इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई कि प्रत्येक सांसारिक सुख चार दुःखों से युक्त हैं। जिस दुःख से हम छुटकारा पाना चाहते हैं, वह कभी

भी सांसारिक पदार्थों के द्वारा संभव नहीं है। इसलिए विवेकी पुरूष इन्हें दुःख रूप ही मानता है।

अब प्रश्न यह होता है कि जैसे सुख की मेरी मांग है तथा समस्त दुःखों से निवृत्ति की इच्छा है वह इन सांसारिक साधनों व व्यवहारों से तो संभव नहीं है तो फिर किससे संभव हो सकता है ? यदि कोई नित्य चेतन व्यापक व सुख गुण वाला पदार्थ हो तथा उससे इस जीव का संबंध हो जावे तब संभव है कि इच्छित सुख व दुःखों से रहितता प्राप्त हो जावे। ऐसा पदार्थ मात्र केवल एक और एक ही है जिसका नाम **परमेश्वर** है। इसमें कोई भी विकल्प नहीं है। क्योंकि वह एकमात्र है। ऋषियों ने उससे संबंध स्थापित करने की पद्धति का निर्माण किया, जिसका नाम योग दिया।

ऊपर लिखित विचारों से यह समझ में आया कि जो कोई भी पूर्णानन्द प्राप्ति की अभिलाषा लिए हुए है तथा सब दुःखों से छूटना चाहता है तो उसकी यह इच्छा न प्रकृति और न ही अन्य जीवों से पूर्ण होना संभव है। ये तो उसके साध्य के लिए साधन दे सकते हैं। हां, इन साधनों से अपने साध्य परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है उसका एकमात्र उपाय योग पद्धति ही है अन्य नही। **योग क्यों** की बात अब स्पष्ट हो गयी है।

योग क्या ?

प्रायः शब्द दो प्रकार के होते हैं एक यौगिक व दूसरे रूढ़। यौगिक उसे कहते हैं जिसके अनेक अर्थ होते हैं। पर जिस प्रकरण में उसका प्रयोग किया गया हो वैसा अर्थ करना ही उपयुक्त है। जैसे संस्कृत का एक शब्द है सैन्धव। इसके दो अर्थ लवण व घोड़ा हैं। यदि स्वामी के बाहर गमन के समय वह सेवक को सैन्धवमानय कहता है तो उस समय सेवक को घोड़ा ही लाना चाहिए नमक नहीं। यह प्रकरणानुसार अर्थ कहलायेगा। दूसरे अन्य शब्द जैसे गौ लौकिक जीवन में इसका एक ही अर्थ लेते है गाय। काल के प्रभाव से शब्दों के अर्थ और परिभाषाएं बदल गयीं हैं। इसी कारण शब्दों के अर्थों पर मतभेद हो गये हैं। योग शब्द भी अपवाद नहीं है।

आज वर्तमान में योग के स्थान पर योगा शब्द अधिक सुनने में आता है। इस योगा का व्यवहारिक रूप सामने यह आ रहा है कि जब व्यक्ति सांसारिक भोगों को सुख की इच्छा से अमर्यादित भोगने पर रोगी हो जाता है तब कुछ शारीरिक व्यायामादि आसनों को करके भोगों को भोगने की क्षमता पुनः प्राप्त करने को योगा कहा जा रहा है अर्थात् भोगों की इच्छा से प्रेरित व्यक्ति जब भोगने की क्षमता प्राप्त कर लेवे उसको योगा कहते हैं। परन्तु योग शब्द का तो अलग ही तात्पर्य है, सामान्य भाषा में योग को जोड़ कहते हैं पर यह गणित के योग का अर्थ है। इसी प्रकार आयुर्वेद में भी योग शब्द का अपना अर्थ है। परन्तु जो दर्शन शास्त्र का योग शब्द हैं वह युज् समाधौं धातु से बना है अर्थात् इसका अर्थ समाधि है।

समाधि के अर्थ भी लौकिक भाषा में अन्य प्रकार के हैं। पर इस दर्शन में **समाधि का अर्थ है ईश्वर के स्वरूप में मग्नता।**

पातंजल योग दर्शन में चार पाद हैं।

१. समाधि पाद, २. साधन पाद, ३. विभूति पाद, ४. कैवल्य पाद

इसमें कुल १९५ सूत्र हैं। समाधिपाद में ५१, साधन पाद में ५५, विभूति पाद में ५५ कैवल्य पाद में ३४ सूत्र हैं।

महर्षि पतंजति प्रथम पाद में ही योग के विषय में लिखते हैं कि योग क्या है ? इसका समाधान दूसरे ही सूत्र में किया है

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः (यो० १/२)

इसका शाब्दिक अर्थ है चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। इस सूत्र में चार शब्द हैं –

१. योग, २. चित्त, ३. वृत्ति, ४. निरोध

पहला योग का अर्थ तो हम पूर्व ही जान चुके हैं कि समाधि अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्नता। अब चित्त को समझें कि यह क्या है ? योग दर्शन में जो चित्त शब्द है वह मन का ही पर्यायवाची है अर्थात् मन व चित्त समानार्थी हैं। वैसे हमारे मुख्य दो करण हैं १. अन्तःकरण, २. बाह्यकरण। अन्तःकरण के चार भाग कहे जाते हैं – मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार ! बाह्यकरण में ५ ज्ञानेन्द्रियां व ५ कर्मेन्द्रियां आ जाती हैं – कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा व नासिका तथा हाथ, पैर, मुख, गुदा व उपस्थ। इसमें अन्तःकरण में जो मन है वह इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को भीतर पहुंचाता है तथा अंदर संगृहित ज्ञान को बाहर पहुंचाता है। **बुद्धि** संगृहित ज्ञान के आधार पर पक्ष व विपक्ष में जो भारी हो उसका निर्णय देती है। **चित्त** वह होता है जिसमें बाहर से प्राप्त ज्ञान स्मृति रूप में संग्रहित करते है। **अहंकार** अपने होने पन का बोध कराता है। योग दर्शन में जिसे चित्त कहा है वह प्रकृति से बना पदार्थ है। प्रकृति का स्वभाव जड़ है। कारण के गुण कर्म स्वभाव कार्य में आते ही हैं अतः चित्त एक जड़ पदार्थ है। यह सभी जीवों के पास होता है। परंतु यह पांच अवस्था वाला होता है।

जैसे हम देखते हैं कि पानी की तीन अवस्थायें होती हैं। १. ठोस अर्थात् बर्फ २. तरल – पानी, ३. गैसें – वाष्प। जो मुनष्य पानी की अवस्थाओं के बदलने की कला को जानता हो वह गर्मी के समय में तरल जल को बर्फ बनाकर शीतलता प्राप्त कर सकता है। यदि तरल जल को प्राप्त करना है तो बर्फ को पिघला सकता है। इसी प्रकार यदि

अन्नादि पकाने की आवश्यकता हो तो तरल जल को वाष्प बनाकर यथायोग्य उपकार ले सकता है। पर अवस्था परिवर्तन की कला से अनभिज्ञ व्यक्ति जल होते हुए भी विशेष शीतलता या अन्नादि को पकाने का कार्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार अज्ञानी सांसारिक व्यक्ति योग विद्या के न जानने पर चित्त होते हुए भी उसका परिवर्तन न कर क्लेशों से पिसता रहता है। चित्त की पांच अवस्थाएं ये हैं।

१. **क्षिप्त** – अति चंचल अवस्था को कहते हैं।
२. **मूढ़** – अज्ञान व मोह से ग्रस्त अवस्था है।
३. **विक्षिप्त** – कभी स्थिर व कभी अस्थिर को कहते हैं।
४. **एकाग्र** – स्थिर अवस्था वाला।
५. **निरूद्ध** – सभी प्रभावों से रहित अवस्था वाला।

इनमें से उत्तम योग निरूद्धावस्था में प्राप्त होता है। इस अवस्था में ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है, अन्य में नहीं।

अब दूसरा चित्त – इसका निर्माण प्रकृति से हुआ है। प्रकृति तीन गुणों वाली है जैसा कि शास्त्र में कहा है –

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति : (संख्य दर्शन)

अर्थात् सत्व, रज, तम, इनकी सम–अवस्था को प्रकृति कहते हैं तथा विषम अवस्था ही विकृति है। चित्त में भी ये तीनों गुण होते हैं विभिन्न अवस्था वाले चित्त में भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता रहती है। क्षिप्त चित्त रजोगुण प्रधान होता है। मूढचित्त तमोगुण प्रधान होता है। विक्षिप्त चित्त में कभी रजोगुण तो कभी सतोगुण प्रधान होता है। तथा एकाग्र अवस्थां में सत्वगुण प्रधान होता है। पर अन्य दो गुण गौण रूप से रहते हैं। निरूद्धावस्था में तीनों गुणों का प्रभाव नहीं रहता है जिसे हम गुणातीत अवस्था कह सकते हैं। उपरोक्त अवस्थाओं में से योग एकाग्र और निरूद्ध चित्त वाले को ही सिद्ध होता है अन्य तीन में नहीं। अतएव क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त अवस्था वाले चित्त को एकाग्र तथा निरूद्धावस्था में बदलने की कला को ही योग कहते हैं।

अब तीसरा शब्द है वृत्ति– जिससे मन व चित्त अपना व्यापार

बाहर–भीतर करता है उसे **वृत्ति** कहते हैं, वृत्ति को तरंग भी कहते हैं। बाह्य वृत्ति के समय चित्त को ये तरंगे बाह्य इंद्रियों की ओर प्रवाहित करती हैं तथा विषयोन्मुख रखती हैं और अन्तर्मुखी होने पर इंद्रियों से सम्पर्क न होने से इनका संबंध आनन्दरूपी परमात्मा से जुड़ जाता है। मन जब इंद्रियों के माध्यम से विषयों के साथ संबंध जोड़कर जो ज्ञान ग्रहण करता है उस ज्ञान की छाप मन पर पड़ती है, उसे ही **संस्कार** कहते हैं। इन्हीं संस्कारों से वृत्ति बनती है। वृत्ति से फिर संस्कार, संस्कार से वृत्ति यह चक्र चलता ही रहता है। वृत्तियों के मुख्य दो भाग होते हैं एक **क्लेशयुक्त** अर्थात् दुःख पैदा करने वाली, दूसरी–**क्लेश रहित** अर्थात् दुःख न पैदा करने वाली, इन्हें **योग दर्शन** की भाषा में **क्लिष्ट** व **अक्लिष्ट** कहते हैं, जैसे कि योग दर्शन में कहा है–

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। (यो० १/५)

अर्थात् वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं। उनके भी **क्लिष्ट** और **अक्लिष्ट** ये दो मुख्य विभाग हैं। जो वृत्तियां मनुष्य को अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य तथा अवैराग्य की ओर ले जाती हैं वे **क्लिष्ट** हैं और जो ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ईश्वर की ओर ले जाती हैं वे **अक्लिष्ट** हैं। हमारी वृत्तियां कहाँ जा रहीं हैं, या हम उन्हें कहां भेज रहे हैं, कहां भेजना चाहिए व कैसे भेजना चाहिए, इस कला को जानना ही योग कहलाता है।

अब चौथा शब्द है निरोध। निरोध का अर्थ है प्रवाह को बदलना। यहां अनेक साधक भ्रमवश निरोध से रोकना अर्थ लेते हैं, जबकि चित्त को रोका नहीं जा सकता, रोकने से तो वह दो गुनी शक्ति से आक्रमण करता है। चित्त रूपी नदी दो ओर बहने वाली है। एक कल्याण के लिए **विवेक वैराग्य** की ओर बहती है और दूसरी पाप के लिए **अज्ञान, अविद्या एवं भोगों** की ओर बहती है। करना यह होता है कि अविद्या भोगों वाले प्रवाह को **विवेक व वैराग्य** के बांध से रोककर कल्याण मार्ग की ओर प्रवाह को बदल देते हैं – जैसे कहा है–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (यो० १/१२)

अभ्यास और वैराग्य से ही उसका निरोध हो सकता है। परंतु

हठपूर्वक बलात् इन्द्रियों को रोकने वाले का तो वैसा ही हाल होगा जैसे नदी के प्रवाह को रोक देवें पर जल को किसी दूसरी ओर प्रवाहित न करें तो कालांतर में जल उस बांध को तोड़कर और भयंकर रूप में प्रवाहित होगा जो बाढ़ के समान विनाशकारी होगा। निरोध का ऐसा अर्थ मानने वाले और गहरे गड्ढे में जाते हैं। **अतएव निरोध का अर्थ हुआ ज्ञान पूर्वक, विद्यापूर्वक प्रवाह को बदलना।**

अब सम्पूर्ण विवेचन से **योग क्या** का उत्तर सामने आया कि **योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं।**

योग कैसे

जब हमने यह जान लिया कि योग ईश्वर में मग्नता का नाम है तथा दुःखों से निवृत्ति के लिए योग अत्यंत आवश्यक भी है तो साधकों के समक्ष फिर एक सबसे बड़ा प्रश्न मुंह फैलाए खड़ा रहता है कि ऐसी कौन सी विधि अपनाऐं जिससे उपरोक्त योग को प्राप्त किया जा सके। क्योंकि यदि हमें दिल्ली से मुम्बई जाना है और हमें मुम्बई विषयक जानकारी भी है, क्यों जाना है, यह भी विदित है। परंतु यदि जाने के मार्ग से हम अनभिज्ञ हैं तो इच्छा होते हुए भी नहीं पहुंच सकते और यदि जाते हैं तो मुम्बई की जगह और ही कहीं पहुंचेंगे, इच्छित स्थान में नहीं। आज योग के विषय में भी यही हाल है, विधि न पता होने के कारण या तो योग में गति हीं नहीं कर पाते अथवा उल्टी सीधी विधि ां से इच्छित परिणाम नहीं आने पर योग को ही छोड़ देते हैं। आइये अब हम इसे विचारें कि योग कैसे सिद्ध हो सकता है।

योग दर्शन के प्रथम समाधि पाद में महर्षि पतंजलि कहते हैं कि **अभ्यास व वैराग्य** के द्वारा यह **वृत्तिनिरोध** संभव होता है। **अभ्यास** की परिभाषा लिखते हैं–

तत्र स्थितौ यत्नोभ्यासः। (यो० १/१३)

अर्थात् चित्त शांत अवस्था में ही बना रहे इसके लिए जो पुरूषार्थ किया जाता है उसे **अभ्यास** कहते हैं। तथा **वैराग्य** की परिभाषा लिखते हैं कि –

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्

(यो० १/१५)

दृष्ट अर्थात् पांच विषय–**रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श** तथा **वित्तैषणा लोकैषणा व पुत्रैषणा** इनसे जिनका चित्त विरत हो गया है। वह आनुश्रविक अर्थात् योगाभ्यास से सिद्धियों का आकर्षण व जन्मान्तर में

विशेष सुखादि प्राप्ति इससे भी जो विरत हो उसको **वैराग्य** कहते हैं। ऐसी स्थिति वाला वृत्ति निरोध कर पाने में समर्थ हो जाता है। परंतु जिसकी ऐसी स्थिति नहीं है क्या उसके लिए भी ऐसी स्थिति बनाने का कोई उपाय है ? तो साधन पाद के प्रथम सूत्र में महर्षि पतजलि कहते हैं –

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो० २/१)

अर्थात् जिसकी स्थिति उपरोक्त न हो तो वह **तप स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान** रूपी क्रियायोग करे। यह तप **स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान** क्या है ? इस पर विचार करते हैं, इनमें हम सर्व प्रथम ईश्वर प्रणिधान पर विचार करेंगे। **ईश्वर प्रणिधान** के तीन विभाग किये जा सकते हैं–

१. समस्त पदार्थों पर ईश्वर का स्वामित्व स्वीकार करना अर्थात् स्व स्वामी संबंध का तोड़ना। महर्षि दयानंद जी आर्यसमाज के प्रथम नियम में इसी ओर संकेत करते हैं वह नियम हैं – **सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।** प्रायः मनुष्य तीन बातों पर अपना स्वत्व मानता है व अभिमान भी करता है। ये शारीरिक बल, बौद्धिक बल तथा भौतिक ऐश्वर्य भवन आदि हैं, पर यदि विधि पूर्वक इस पर विचार करें तो इन सबका आदि मूल परमेश्वर है। देखिए एक भवन है व्यक्ति कहता है यह मेरा है। पर उसको बनाने वाले शिल्पी आदि उपस्थित हों व वे कहें कि यदि हम न होते या न बनाते तो इस भवन का बनना संभव ही नहीं था अतएव इसका श्रेय तो हमें ही मिलना चाहिए। परंतु भवन जो कि ईंट, सीमेंट, रेत, लोहादि साधनों से निर्मित हुआ है उस सामग्री को जिन व्यक्तियों ने शिल्पी को दी हैं यदि वे कहें कि हम यह सामग्री न देते तो शिल्पी भवन का निर्माण कैसे करते अतएव हमें ही इसका मुख्य श्रेय मिलना चाहिए। अब यदि सामग्री देने वालों से पूछा जावे कि ये ईंट आपने किससे बनाई? उत्तर होगा मिट्टी से। आगे प्रश्न आयेगा मिट्टी किसने बनाई? तो उत्तर आयेगा ईश्वर ने, लोहा भी पृथ्वी से मिला, सीमेंट भी पत्थरों से निर्मित हुई व रेत भी नदी के किनारे से प्राप्त की। इतनी ऊहापोह से ज्ञान हुआ कि **इन सब पदार्थों का आदिमूल**

परमेश्वर है। इसी प्रकार विचार करने से शारीरिक बल व बौद्धिक बल का भी आदि मूल परमात्मा ही रहेगा। इस विवेचन से तथ्य सामने आता है कि संसार के समस्त पदार्थों पर ईश्वर का ही स्वामित्व है।

२. समस्त कार्य ईश्वर की आज्ञानुसार ही करना अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति ही सब कर्मों का मुख्य आधार मानना होगा। यदिं व्यवहार काल में ईश्वराज्ञा से विपरीत कर्मों को करता है तो इसका अर्थ यह निकलेगा कि वास्तव में उसने ईश्वर के स्वामित्व को स्वीकार नहीं किया है। यदि ईश्वर का स्वामित्व मान लिया है तो फिर उसकी आज्ञा के विरूद्ध काम करना संभव ही नहीं होगा।

३. ईश्वर से सांसारिक भोगों की कामना न करना जब व्यक्ति ईश्वर को समस्त सत्य विद्याओं का मूल मानता है वह अनुपम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान है ऐसा जानता है तब उसको छोड़कर अन्य की कामना संभव ही नहीं है। उपरोक्त तीन बातें **ईश्वर प्रणिधान** के अंतर्गत आती हैं।

अब **स्वाध्याय** पर विचार करते हैं। इसमें भी तीन बातें हैं—

१. मोक्ष विषयक सत् शास्त्रों का अध्ययन करना। अर्थात् वेद, दर्शन, उपनिषद् व आप्त ऋषियों के ग्रन्थों का अध्ययन करना।
२. आत्म निरीक्षण करें अर्थात् जो अपना लक्ष्य उद्देश्य वा साध्य बनाया हुआ है उसमें जो साधन सहयोगी हैं उनको आचरण में लावें तथा जो बाधक व विघ्न हैं उनको दूर करने का यत्न किया करें। इस विषय में स्वयं की क्या उन्नति वा ह्रास हो रहा है इसका निरीक्षण करें ऐसा करना ही आत्मनिरीक्षण कहलाता है। इसे सर्वदा करते रहना चाहिए।
३. ईश्वरोपासना किया करें अर्थात् ईश्वर के मुख्य नाम ओ३म् का जप करें। जप की विधि यह है कि मानसिक स्तर पर नाम को बोले तथा उसके अर्थ पर आन्तरिक रूप से विचार भी करता जावे। यह दोनों करते समय ईश्वर समर्पण रहे, याने मेरे सम्मुख ईश्वर है व उसे मैं यह सुना रहा हूं व कह रहा हूं।

इसी का नाम जप है। **तीसरा भाग तप** का आता है वेसे सामान्य रूप से तप का अर्थ है द्वन्द्वों का सहन करना–

तपो द्वन्द्व सहनम्। (व्या० भा० २/३२)

प्रत्येक मनुष्य वह चाहे लौकिक साधनों के लिए पुरूषार्थ करता हो वा पारमार्थिक कार्यों के लिए करता हो उसे द्वन्द्व अर्थात् सर्दी–गर्मी भूख–प्यास इत्यादि सहन करने ही होते हैं। तो क्या सभी तप की कोटि में आयेंगे ? तो उत्तर होगा लौकिक सुख प्राप्त करते समय किये गये सारे कर्म अर्थात् जो द्वन्द सहन होता है वे सब तप की श्रेणी में न आकर ताप की श्रेणी में आते हैं। क्योंकि ये सुख प्राप्त करते समय भी व्यक्ति दुःख उठाता है तथा सांसारिक भोगों के पश्चात् भी दुःख प्राप्त करता है। अतएव इन्हें **ताप** कहते हैं। पर जब धर्माचरण करते हुए विद्या प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए ब्रहमचर्य पालन हेतु पुरूषार्थ करते हुए व योग साधनों का अभ्यास करते हुए जो द्वन्द्वों को प्रसन्नता पूर्वक सहन करना होता है उसे ही तप कहते हैं। सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, मान–अपमान, लाभ–हानि, सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों को यदि खिन्नतापूर्वक सहन करता है तो भी वह **तप** नहीं कहलायेगा अपितु जब वह प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता है तब ही वह तप की संज्ञा को प्राप्त करता है। अतएव जो योग को प्राप्त करना चाहता है। उसको उपरोक्त तीन साधनों **तप स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान** को अपनाना होता है।

व्यवहार काल में देखा जाता है कि कितनी ही बार सुन लिया जाता है, पढ़ लिया जाता है। सुना देते हैं पढ़ा देते हैं। किन्तु सुनने–पढ़ने वाले सुनाने–पढ़ाने वाले दोनों ही व्यवहार में लाने पर बड़ी कठिनाई का अनुभव करते है। इसलिए महर्षि कपिल जी ने कहा है –

न श्रवणमात्रात् तत् सिद्धिरनादि
वासनाया बलवत्वात्।

(सांख्य २/३)

अर्थात् वाणी से कहने व कानों से सुनने मात्र से सिद्धि नहीं होती। क्योंकि अनादि काल से अत्यंत बलवान वासनाएं चित्त में उपस्थित

रहती हैं। इस दुस्तर कार्य में योग मार्ग के बिना सफलता संभव नहीं है।

चित्त की जिस प्रकार पांच अवस्थाएं क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध हैं। इस प्रकार वृत्तियां भी पांच प्रकार की हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति। इसी प्रकार संस्कारों की भी पांच अवस्थाएं हैं–**उदार, विच्छिन्न, तनु, प्रसुप्त तथा दग्धबीज**। इन संस्कारों व वृत्तियों के भी मुख्यतया दो विभाग हैं – एक कुसंस्कार, दूसरे सुसंस्कार व वृत्तियों के भी एक क्लिष्ट दूसरे अक्लिष्ट, एक बाधक दूसरे साधक। अर्थात् एक साध्य को प्राप्त कराने में विघ्न पैदा करते हैं जबकि दूसरे साध्य को प्राप्त कराने में सुविधा सरलता प्राप्त कराते हैं। संस्कारों की अवस्था निम्न प्रकार समझी जा सकती है –

१. **उदार** – व्यवहार काल में जिन संस्कारों को उपयोग में ला रहे हो वह अवस्था। जैसे प्रिय के मिलने पर प्रेम का व्यवहार व्यक्ति करता है यह प्रेम का **उदार काल** है।

२. **विच्छिन्न** – प्रिय के मिलने पर प्रेम का व्यवहार तो उदार काल है, पर इसका मतलब यह नहीं कि उसमें क्रोध समाप्त है, वहां उस समय क्रोध विच्छिन्न दशा में है। अर्थात् जब व्यक्ति कोई उससे व्यवहार नहीं कर रहा है या दबा हुआ है उसे **विच्छिन्न दशा** कहेंगे।

३. **तनु** – जब व्यक्ति को पता लग जाता है कि क्रोध मेरे लिए बाधक संस्कार है उसे नहीं करना चाहिए, तब एकांत में बैठकर मानसिक स्तर पर क्रोध से होने वाली हानियों तथा शांति के व्यवहार से होने वाले लाभों का विचार करता हैं। तो शनैः–शनैः क्रोध के संस्कार तनु अवस्था में आते जाते हैं, जबकि शांति के संस्कार उभरने लगते हैं अर्थात् बाधक संस्कारों के शिथिल होने वा दुर्बल होने का नाम ही तनु अवस्था है। जैसे बढ़ई (सुतार) मोटी लकड़ी पर रन्दा घुमा–घुमा कर सूक्ष्म या निर्बल कर देता है उसी प्रकार योगी भी अपने सुसंस्कारों द्वारा

कुसंस्कारों को छीलकर कम करके चित्त को पवित्र बनाता है। इसे ही **तनु अवस्था** कहते हैं।

४. **प्रसुप्त** – जब संस्कार अत्यंत शिथिल व दुर्बल हो जाते हैं कोई बड़ा कारण उपस्थित होने पर ही व्यवहार काल में दीखते हैं वह अवस्था **प्रसुप्त** कहलाती है।

५. **दग्धबीज** – यह वह अवस्था है जब अत्यंत बड़ा कारण होने पर भी संस्कार नहीं उभरता है। जैसे धान की भूसी निकालने पर वह चावल हो जाता है तब यदि उसे बोयेंगे तो कभी भी उसमें से अंकुर नहीं फूट सकता। इसी को **दग्धबीज** अर्थात् संस्कारों का समूल नष्ट होना कहते हैं।

चित्त की पांच अवस्थाओं में कौन–कौन से गुण प्रधान हैं, तथा उनके क्या लक्षण हैं, इनका भी वर्णन करते हैं जिससे साधक उन लक्षणों से परिचित होकर लाभ उठा सकें –

१. **क्षिप्त** – इसमें रजोगुण प्रधान होता है। इसके लक्षण हैं – ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेपादि। इसमें रजोगुण प्रधान होता है एवं तमोगुण व सतोगुण उससे दबे हुए रहते हैं।

२. **मूढ़** – इसमें तमोगुण प्रधान होता है। इसके लक्षण हैं – क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमादादि। इसमें तमोगुणी संस्कार उदार अवस्था में रहते हैं रजोगुणी व सतोगुणी उससे दबे हुए रहते हैं।

३. **विक्षिप्त** – इसमें कभी रजोगुण तो कभी सतोगुण प्रधान रहते हैं। इसमें तमोगुण दबा हुआ रहता है। इसमें संस्कार उदार एवं विच्छिन्न अवस्था में रहते हैं।

४. **एकाग्र** – इसमें सतोगुण प्रधान अवस्था में रहता है। इसके लक्षण हैं – शांतप्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचारादि, तमोगुण व रजोगुण उससे दबे हुए रहते हैं।

५. **निरूद्ध** – इसमें कोई भी गुण प्रधान नहीं होता, किसी का भी

प्रभाव नहीं रहता, इसमें संस्कांरों की दग्धबीज अवस्था हो जाती है।

जैसे कि पहले भी कहा जा चुका है कि केवल एकाग्र और निरूद्धावस्था में ही योग सिद्ध हो सकता है। अन्य में नहीं। अब साधक के जो तमोगुण व रजोगुण के संस्कार उदारावस्था में हैं। उनको विच्छिन्न अवस्था में रखते हुए एकान्त स्थान में विधि पूर्वक अभ्यास करते हुए क्रम से तनु व प्रसुप्त अवस्था तक ले जाना चाहिए। तथा दूसरा कार्य जो सतोगुण के संस्कार प्रसुप्त तनु व विच्छिन्न रूंप में हैं, उनको उदार अवस्था में लाना चाहिए। इस प्रकार दीर्घकाल, निरंतर, श्रद्धा, तप, विद्या व ब्रह्मचर्य पूर्वक किये गये अभ्यास से सफलता मिलती है, जिससे एकाग्र अवस्था प्राप्त हो जाती है। आगे फिर तीनों गुणों के संस्कारों को दग्धबीज की ओर ईश्वर के सहाय से ले जाया जाता है तथा चित्त की निरूद्ध अवस्था को प्राप्त कर यह अनुभव करता है कि जो कुछ प्राप्त करने योग्य था प्राप्त कर लिया तथा जो कुछ छोड़ने योग्य था वह सब छोड़ दिया वह अब पूर्ण तृप्ति की अनुभूति करता है व कृत कृत्य हो जाता है। इस प्रकार योग को क्रियान्वित करके अपने इच्छित पूर्णानन्द की प्राप्ति व अत्यंत दुःखों से निवृत्ति के लक्ष्य को ईश्वर के सानिध्य से प्राप्त करता है।

उपसंहार वा प्रयोजन

साधक प्रवृत्ति के व्यक्ति प्रायः देखने में आये हैं कि उन्हें अनुभवी धार्मिक विद्वान जन न मिलने के कारण जैसा कुछ बन पड़ता है उसके अनुकूल धन बल व बुद्धि अधिक काल तक लगाते हुए भी जो प्राप्तव्य सुख शान्ति आनन्द है उसे न प्राप्त कर असंतोष अशान्ति दुःख व क्लेशों को भोगते हुए या तो उस साधना के मार्ग को छोड़ देते हैं वा कुण्ठित होकर सब ओर से असत्य ही इसका प्रलाप करते हैं वा बाह्याचरण से अपने आपको उपलब्धियुक्त बताते हुए पाखण्ड को धारण करते हुए भ्रमण करते रहते हैं। परन्तु सम्भव है कुछ ध्येयनिष्ठ साधकों को समय रहते यथार्थ अनुभवी धार्मिक व्यक्ति का संपर्क अथवा इनके द्वारा प्रणीत सत्साहित्य के द्वारा यथाविधि ज्ञान बन जावे तो कुछ मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इसी उद्देश्य को लेकर कुछ जिज्ञासु व साधक प्रवृत्ति के व्यक्तियों के आग्रह पर इस पुस्तिका का निर्माण किया गया है। परंतु पुनः भूल न होवे क्योंकि आज ज्ञान अथवा विद्या से यह भाव लिया जा रहा है कि कुछ पढ़ना–पढ़ाना, लिखना–लिखाना, सुनना–सुनाना, स्मरण करना–कराना आदि ही विद्या है। यदि यही **विद्या** होती तो कठोपनिषद् के इस वचन का क्या अर्थ होगा –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

(कठो० २/२३)

इसका भाव हुआ कि यह आत्मतत्व न बहुत बोलने, ना बहुत बुद्धिमान होने, न बहुत सुनने से प्राप्त होता परंतु जिसे ईश्वर वरण करता है उसे ही प्राप्त होता है। अब इसका कोई–कोई यह विरूद्धार्थ ले लेते हैं कि पढ़ना–पढ़ाना, लिखना–लिखाना, सुनना–सुनाना, स्मरण करना–कराना सब व्यर्थ है। क्योंकि इससे आत्मतत्व नहीं मिलता है।

सब परमेश्वर की कृपा पर होगा। ये दोनों प्रकार की बातें निरर्थक सी हैं। इसीलिए कठोपनिषद् वाले ऋषि आगे कहते हैं–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्तमनसोवापि प्रज्ञानेनैनामाप्नुयात् ।।

(कठो० २/२४)

इसका भाव यह है कि जब तक व्यक्ति दुष्ट चरित्र से नहीं हटता और अशान्त चित्त है, एकाग्र चित्त नहीं है, संशय युक्त मनवाला है तब तक आत्मतत्व को नहीं जान सकता। विशेष विद्याप्राप्ति पर ही वह मिलता है। वह विद्यातत्व कैसे प्राप्त होगा उसकी यथार्थ विधि संक्षेप से देते हैं। यदि विधिवत् इसका अनुसरण किया जावे तो इस **लघुपुस्तिका** से भी बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है। विद्या की परिभाषा महर्षि दयानंद जी ने अपने लघु ग्रन्थ आर्योद्देश्यरत्नमाला में इस प्रकार दी हैं। **जिससे ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है इसका नाम विद्या है।** इस विद्या की प्राप्ति का उपाय भी महर्षि दयानन्द जी ने अपनी पुस्तक **व्यवहार भानु** में दर्शाया है–

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन .
स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।।

(महा० अ० १/१/१ आ० १)

विद्या चार प्रकार से आती है **आगम, स्वाध्याय, प्रवचन** और **व्यवहार काल। आगम काल** उसको कहते है कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि ग्रहण कर सकें। **स्वाध्याय** उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द अर्थ और संबंधों की बातें प्रकाशित हों उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचार के ठीक–ठीक हृदय में दृढ़ कर सकें। **प्रवचनकाल** उसको कहते हैं कि जिससे दूसरों को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना। **व्यवहारकाल** उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है तब यह करना यह न करना वही ठीक–ठीक सिद्ध होके वैसा

ही आचरण करना हो सके। ये चार **प्रयोजन** हैं तथा अन्य भी चार कर्म विद्या प्राप्ति के लिए हैं – **श्रवण मनन निदिध्यासन और साक्षात्कार। श्रवण** उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो जो अर्थ और संबंध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना। मनन उसको कहते हैं कि जो–जो शब्द अर्थ और संबंध आत्मा में एकत्र हुए हैं उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ संबंध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उल्टे होने में क्या–क्या हानि होती है इत्यादि। **निदिध्यासन** उसको कहते हैं कि जो शब्द अर्थ और संबंध सुने विचारे और निश्चय किये हैं उनकी विशेष परीक्षा करके दृढ निश्चय करना और **साक्षात्कार** से तात्पर्य यह है कि जिन अर्थों के शब्द और संबंध सुने विचारे निश्चय किए गए हैं उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहार की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

इस उपरोक्त प्रकार से पुस्तिका को पढ़ सुन कर यदि व्यक्ति यथावत् यत्किञ्च विद्या की प्राप्ति करेगा जो उसी अनुपात में उसके क्लेश शान्त होंगे, चित्त शान्त होगा, तथा दुःखों से दूर होगा, क्योंकि **विद्या का फल यही है कि यथार्थ ज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना।** अत्यन्त पुरूषार्थ करते हुए उस उत्तम कार्य की सिद्धि करें व साथ ही हृदय में निम्न वेदमन्त्रानुसार प्रार्थना करें तो अवश्य अपने ध्येय सुख शान्ति आनन्द की प्राप्ति तथा दुःख अशान्ति व क्लेशों की निवृत्ति का लाभ प्राप्त करने में सामर्थ्य बढ़ता जायेगा।

ओ३म् अग्ने नय सुपथा राये–अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।

(यजु० ४०/१६)

हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर आप जिससे (विद्वान) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिए, इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रता पूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें। (संस्कार विधि ईश्वर)

समाप्ताचेयं पुस्तिका

अमृत-वाणी

१. दुःख चाहो दुःख बांटो, सुख चाहो सुख बांटो, जिसे सम्भालोगे वही बांटोगे।

२. वैदिक विचार—सुख के लिए ईश्वर, कार्यसिद्धि के लिए संसार, अर्थात साध्य है ईश्वर एवं साधन है संसार।

३. विरक्ति क्या है—विशेष ज्ञानपूर्वक वस्तु के अवगुणों को जानकर, उसे छोड़ना, उस वस्तु से विरक्ति है।

४. त्याग किसे कहते है—कुछ देकर ही कुछ पाया जाता है, विज्ञानपूर्वक वस्तुओं के मूल्यों को जानकर बहुमूल्य वस्तु का ग्रहण करना तथा कम मूल्यवान का छोड़ना इसे ही त्याग कहते है।

५. सामान्य जन ईश्वर से चाहते है ईश्वर को नहीं चाहते।

६. गुणों का साक्षात् ही गुणी (पदार्थ) का साक्षात् है।

७. कृत्वित्व से अस्तित्व का बोध होता है।

८. समस्त क्लेशों का मूल अविद्या है, समस्त यम—नियमों का मूल अहिंसा है, समस्त कर्म—काण्डों का मूल धर्म है।

९. संसार को प्रभावित करने की इच्छा ही संसार से प्रभावित होने के रूप में आती है।

१०. पशु पेट के लिए खाते है, मूर्ख स्वाद के लिए खाते है, चतुर खाता है आरोग्य और शक्ति के लिए, संत खाता है केवल साधना के लिए।

११. सब परिस्थितियां अनिश्चित हैं, यही निश्चित है सब संसार अस्थिर है यहीं कथन स्थिर है, सब मनुष्य अविश्वसनीय है, यही विश्वास है।



नाम :
स्वामी अमृतानन्द सरस्वती

जन्म तिथि :
२५.१०.१६४२

जन्मस्थान :
ग्राम दुदवास, जिला खण्डवा, (मध्यप्रदेश)

शिक्षा :
डिप्लोमा-मैकॅनिकल इंजीनियरिंग खण्डवा

विद्यावाचस्पति :
दयानंद ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

कार्य : ५ वर्ष तक आर्मी में इंजीनियर, उसके पश्चात ३ वर्ष वेद व संस्कृत अध्ययन, १० वर्ष तक आर्ष गुरूकुल होशंगाबाद, मध्यप्रदेश में आचार्य।

पश्चात् पिछले कई वर्षो से योग साधना शिविरों का आयोजन पूरे भारत वर्ष के कई प्रांतों व कई जिलों में करके कई लोगो के जीवन में योग का प्रकाश कर उनके जीवन को उन्नत बनाया है।

वर्तमान में जमानी (इटारसी) में आश्रम का निर्माण कार्य चल रहा है, जहां साधना केन्द्र, वानप्रस्थ आश्रम, यज्ञशाला व गौशाला का निर्माण कार्य होगा। इसके निर्माण कार्य के पश्चात यहीं पर स्थायी रूप से साधना के लिये समर्पित रहेगें।

